श्री० कौशलेन्द्र जी राठौर

काकली

लेखक

कौशलेन्द्र राठौर

प्रकाशक

रामसिंह राठौर

राजसदन मैनपुरी यू० पी०

प्रथम बार २०००

१९२९

मूल्य ।।।) आना

समर्पण

धूल धूसरित तन छू कर, जो–,
मोद-मत्त बन जाते हैं ।
बाल सुलभ क्रीड़ाओं को लख,
जिनके दृग भर आते हैं ।
शिशुओं के प्रेमी हैं, जिन को–,
बात तोतली प्यारी है ।
बस, उन को ही समुद समर्पित,
यह 'काकली' हमारी है ।

'कौशलेन्द्र'

हृदयोद्गार

श्रीठाकुर कौशलेन्द्रसिंह राठौर ने मैनपुरी से यहाँ इस दुरधिगम्य गाँव में पधार कर मुझ पर जो कृपा की उससे मैं अतीव गौरवान्वित हुआ। उनकी इस पुस्तक "काकली" को यत्र-तत्र देखकर मैंने वही आनन्द प्राप्त किया जो इस नाम के शब्दार्थ से सभी सहृदय जनों को प्राप्त होता है। आप में कवित्व का बीज स्पष्ट देख पड़ता है। अनेक विषयों पर सुन्दर शब्दों में अपने भाव व्यक्त करने की जो शक्ति आप में है वह भगवती सरस्वती की आराधना से, आशा है, यथेष्ट विकसित होती जायगी।

दौलतपुर (रायबरेली)
७ जूलाई १९२९

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक का निवेदन
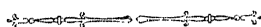
आज मैं यह 'काकली' नामक पद्य-पुस्तिका सहृदय पाठकों की सेवा में उपस्थित करता हूँ। यह रचना हमारे सजातीय तथा परम मित्र भावुक कवि श्रीकौशलेन्द्र जी राठौर की है। इसकी प्रायः सभी कविताएँ हिन्दी-संसार की सर्वोत्कृष्ट पत्रिकाओं (माधुरी, सुधा, सरस्वती आदि) में समय समय पर सम्मान के साथ प्रकाशित होती रही हैं। अस्तु उनकी प्रशंसा करना इस निवेदन में अप्रासङ्गिक सा प्रतीत होता है। अब यदि यह मेरा परिश्रम भावुक पाठकों के विनोद की सामिग्री बन सका, तो मैं अपने को कृतार्थ समझूँगा और उनकी सेवा में शीघ्र ही फिर कौशलेन्द्र जी की कोई नवीन रचना प्रस्तुत करूँगा। अन्त में मैं अपने मित्र साहित्यप्रेमी श्री० पं० भोलानाथ जी चतुर्वेदी तथा श्री० ठा० मुन्नासिंह जी बैस को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने मुझे इसके लिए प्रोत्साहित किया है।

श्रीराज-सदन
मैनपुरी
आषाढ़ पूर्णिमा
सं० १९८६ वि०

विनीत—
रामसिंह राठौर

भूमिका
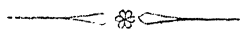
श्रीयुत कौशलेन्द्र जी राठौर हिन्दी के उत्साही, होनहार और भावुक कवि हैं। उनकी रचनाएँ हिन्दी के मासिकपत्रों में प्रायः निकला करती हैं। 'माधुरी' पत्रिका पर राठौर जी की विशेष कृपा है और उसमें आप कुछ न कुछ ज़रूर लिखते रहते हैं। इनकी रचनाओं में भाषा की स्वच्छता, मन पर प्रभाव डालने वाली स्वाभाविकता एवं सुरुचिपूर्ण विचारों में सहृदयता की अनोखी छाप रहती है। इन्हीं कारणों से कौशलेन्द्र जी राठौर की कविता लोकप्रिय भी हो रही है। ठाकुर साहब की रचनाओं में नये भाव तो रहते ही हैं साथ ही पुराने भावों से लाभान्वित होने में भी उन्हें संकोच नहीं है। इस प्रकार से उनकी रचनाओं में नूतन और पुरातन का समन्वय भी सुन्दर रीति से हो जाता है। मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि आपकी कविताओं में मौलिकता का अभाव है। असल बात तो यह है कि आपकी रचनाओं पर मौलिकता का गंभीर प्रभाव है। एक बात और है ठाकुर साहब केवल प्रोपोगैंडिस्ट कवि नहीं हैं। समय प्रवाह के अनुसार विषय-विशेष का प्रचार करने के लिये ही आपकी लेखनी संचालित नहीं होती है वरन् हृदय की प्रेरणा से उठने वाले सुकुमार भावों को ही आप अपने पद्यों में आश्रय देते हैं। इस कारण से आपकी कविता में अनेक अंशों में ऐसी

सामग्री सुलभ है जिसका महत्व स्थाई है। इस गुण के कारण आपकी कविता का संरक्षण और संग्रह उचित जान पड़ता है। हर्ष की बात है श्रीयुत रामसिंह जी राठौर ने 'काकली' नामक इस संग्रह में ठाकुर साहब की प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का सुन्दर संकलन किया है। खेद है समयाभाव के कारण मैं इस छोटी सी भूमिका में श्रीयुत कौशलेन्द्र जी की कविताओं पर विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रकट करने में असमर्थ हूँ, परन्तु व्यापक रूप से उनकी रचनाओं में जो विशेषताएँ मुझे उपलब्ध होती हैं उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन मैंने ऊपर कर दिया है। अपनी सम्मति की पुष्टि में मैं यहाँ पर कुछ उदाहरण भी देना उचित समझता हूँ :—

दुःख का वर्णन करते हुए राठौर जी 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर' सभी को दुखी देखते हैं। उनका पवन दुख से कम्पित है। उसी कारण से पृथ्वी पर खाक उड़ रही है। दुख से ही त्रस्त आग अपने आप जली जाती है और आकाश बेचारा आहों के घात-प्रतिघात से नीला पड़ गया है। जल की शीतलता भी विवश है। उसका बल भी क्षीण हो गया है। वह भी पिपासा का कवल बन गया है। कैसा भीषण दुख है। और इन्हीं पंचतत्वों के दुःख पराभूत समाज में ईश्वर ने कवि को भी डाल दिया है। क्या करुणानिधान को यही उचित था ? फिर कवि उन्हें उपालंभ क्यों न दे ?

देखिए राठौर जी की यह उक्ति कितनी सुन्दर है :—

काँपता पवन अविराम पंथ चलने से;
धरा हुई धूल भार जग का उठाने से।
जलती अनल अपने ही में निरंतर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से ॥
कौशलेन्द्र जल भी बना कवल प्यास का है,
बच सका कौन जगती में दुख पाने से।
डाल दिया मुझको कहाँ है हाय भगवान,
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से ॥

उपर्युक्त छंद में हृदय पर चोट करने वाली एक सुन्दर उक्ति का समर्थन कैसे अच्छे ढंग से हुआ है इसके साक्षी सहृदयों के हृदय ही हो सकते हैं। पद्य में न तो कृत्रिमता का घटाटोप है और न मस्तिष्क को कष्ट देने वाली क्लिष्ट कल्पना। जो बात कही गई है उसका निर्वाह नितान्त स्वाभाविक ढंग से स्पष्ट और स्वच्छ भाषा में किया गया है। गंभीर वेदना का विकास मार्मिकता अथवा मौलिकता मंडित है। मुझे तो इस छन्द में सच्ची कविता के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण और लीजिए :—

दुखिया अनाथ दाने दाने को तरस रहे,
अधम विलासियों का गाड़ दिया धन में।
शासक सबल सुख भोग रहे महलों में,
प्रेम के पुजारी भटकाए वन वन में ॥

कौशलेन्द्र बड़े हो बड़ी ही है तुम्हारी लीला,
कौन कह कर पड़े भारी उलझन में।
खोलता मैं किन्तु सारी कलई तुम्हारी नाथ,
बैठे जो न होते तुम मानस भवन में॥

उपर्युक्त पद्य में कवि ने ईश्वरकृत सांसारिक विषमता का जो परिचय दिया है वह बड़ा ही सरल और सरस है। भाव में नवीनता एवं मौलिकता नहीं है। इसी बात को अनेक पुराने कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है पर राठौर जी का अकृत्रिम वर्णन भी बड़ा ही आकर्षक है। हृदय पर इस वर्णन के पढ़ने से जो प्रभाव उत्पन्न होता है वह शीघ्र नहीं भुलाया जा सकता है। 'नाथ' की 'सारी कलई' न खोलने का जो बहाना कवि ने किया है उसमें एक प्रकार की विनोद-पूर्ण प्रगाढ़ भक्ति की भावमयी झांकी है।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी-संसार में 'काकली' का आदर होगा और श्रीयुत कौशलेन्द्र जी राठौर अपनी स्वाभाविक कवित्व-शक्ति से प्रेरित होकर साहित्य-मंदिर को अपनी कविता-सुमनावली से निरन्तर भूषित करते रहेंगे। तथास्तु।

लखनऊ
श्रावण शुक्ल १०, बुधवार
संवत् १९८६ विक्रमीय।

कृष्णविहारी मिश्र

विषय-सूची ।

काकली

हिरानी है

(१)

रम्य रविमंडल में तेज-रूप आपु ही हौ,
चन्द्र-कुण्डली में आभा रावरी समानी है।
नभ में असीमता, अवनि में विचित्रता औ,
सिन्धु में गँभीरता तिहारी ही प्रमानी है।
'कौशलेन्द्र' विद्यमान कण कण में हौ, तऊ—,
पाइबो तिहारो मृग-तृष्णिका को पानी है।
हेरि हारयो, परत न आगे पग नाथ ! गति—
गैल में हिरानी मति मन में हिरानी है।

दुख

काँपता पवन अविराम पंथ चलने से,
धरा हुई धूल भार जग का उठाने से।
जलती अनल अपने में ही निरंतर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से।
'कौशलेन्द्र' जल भी बना केवल प्यास का है,
बच सका कौन जगती में दुख पाने से।
डाल दिया मुझको कहाँ है भगवान! हाय,—
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से।

(२)

जीवन ही जड़ है अशांति की दयानिधान!
तन ही कठिन यातनाओं का सदन है।
कल्पना में भी कभी न शांति मिलती है यहाँ,
अपना विकास बना अपना पतन है।
'कौशलेन्द्र' चित्त-वृत्तियां भी घबराई सी हैं,
बन गया प्राण कृश हो कर पवन है।
साँस लेने पाती नहीं साँसें कभी नेक हाय,
टिकने न पाता कहीं एक ठौर मन है।

जिज्ञासा

मञ्जुल मयङ्क में अमल आभा किसकी है,
चपल चमक किसकी है तारागन में।
तेज अंशुमाली में है किसका समाया हुआ,
छाई छटा किसकी है बन, उपवन में।
'कौशलेन्द्र' किसकी सुरभि फूल वृंद में है,
गूँज रही तान सी है किसकी पवन में।
घूमती वसुन्धरा है किसकी प्रदक्षिणा में,
किसकी जमी है धाक दृग और मन में।

(२)

गिरिवर गण किसको खड़े निहारते हैं,
दौड़ते जलद किसके लिये गगन में।
उदधि उमँगते हैं किसके समागम को,
किस के लिये तड़पती है विज्जु घन में।
किसके रिझाने को प्रकृति सजती है साज,
कोई बतलादो, मैं पड़ा हूं उलझन में।
जीवन दिवस जारहे हैं किसे खोजने को,
किस के लिये रुके हुए हैं प्राण तन में।

उनसे

कब तक सहनी पड़ेगी निठुराई तव,
कब तक छूटना न होगा दुख दाहों से।
अब न अधिक कलपाओ तरसाओ हमें,
हाय जलता हूँ नित्य अपनी ही आहों से।
'कौशलेन्द्र' नेक भी न देते ध्यान इस पै कि,
प्राण में छिपाया तुमको था किन चाहों से।
एक बार तो निहार लो हमें नज़र भर,
चाहे बेध देना फिर तिरछी निगाहों से।

(२)

मेरा स्वर्ण मन निज मानस कसौटी पर,
कस लिया, तदपि हुआ न तुम्हें एतबार।
मेरे लिये तुम हो सदैव प्राणाधार, किन्तु,—
तुमको है हाय मेरा नाम भी हृदय-भार।
'कौशलेन्द्र' तन लिया मन लिया ध्यान लिया,
तो भी न दिखाया कभी नेक मुझ पर प्यार।
सब कुछ ले लो, पर छोड़ दो हमारे लिए,
मानस में पीर लोचनों में आँसुओं की धार।

मेरी दशा

जागता नहीं हूं तुम्हें देखता हूं चारों ओर,
सोता नहीं हूं तुम्हारा ध्यान धरता हूं मैं।
बोलता नहीं हूं किन्तु तुमको पुकारता हूं,
होता हूं न मौन आप में विसरता हूं मैं।
'कौशलेन्द्र' अब न अधिक भटकाओ हमें,
करता जो हूं तुम्हारे हेतु करता हूं मैं।
जी नहीं रहा हूं यह जीवन बिता रहा हूं,
साँस चलती नहीं है आहें भरता हूं मैं।

(२)

शांति हुई स्वप्न, कल्पना में भी न मोद रहा,
खिंच गई आनन पै दुख की लकीर है।
जीवन के व्रण से निकलते हैं अश्रु-बुंद,
बुद्धि हुई क्षीण, धैर्य भी हुआ अधीर है।
'कौशलेन्द्र' तन होगया है तत्व हीन, बस,—
रह गया शेष अभिलाषा का समीर है।
डूबा प्राण-कंज उर-करुणा-सरोवर में,
मानस की पीर हुई द्रौपदी का चीर है।

प्रेम के छींटे

ध्यान रखते न यदि संतत चराचर का,
कौन तब जग में तुम्हारा ध्यान धरता ?
करते सदा न यदि बास उर धामों में, तो
गमन न कोई तब धाम को भी करता ।
तारना न सीखते जो पापियों को तार के तो,
साधु भी न सहसा तुम्हारे तार तरता ।
करते न अबल जनों को निज ओर में तो
कैसे नाथ सबल समाज तुम्हें डरता ?

(२)

ग्राह से गजेन्द्र को दयार्द्र हो छुड़ाया, किंतु-,
इस में तो सर्वथा दया की ही बड़ाई है ।
द्रौपदी की लाज रक्खी अपनी हँसी विलोकि-
भास होती यों भी तो हया की प्रभुताई है ।
ध्रुव, प्रहलाद, शिवि तारे यदि आप ने, तो,
तप-कीर्ति उनकी क्यों चारों ओर छाई है ?
करनी विरानी से बने हैं यश-शाली आप
लीलाधाम ! देखी सब ठौर चतुराई है ।

(३)

कैसे नाम लेता सारा जगत न होती यदि,
आप से अधिक सत्ता आप के सुनाम में ?
चाहता कृपा की कोर कोई भला कैसे, जब-,
राजती क्षमा न तव लोचनाभिराम में ?
'कौशलेन्द्र' रहते न दीन ही जगत में, तो
दीन बन्धुता तुम्हारी आती किस काम में ?
पूछता न कोई तुम्हें कौड़ी को भी कमलेश !
कमला न होती जो तुम्हारे स्वर्गधाम में ?

(४)

दुखिया अनाथ दाने दाने को तरस रहे,
अधम विलासियों को गाड़ दिया धन में।
शासक सबल सुख भोग रहे महलों में,
प्रेम के पुजारी भटकाए बन बन में।
'कौशलेन्द्र' बड़े हो बड़ी ही है तुम्हारी लीला,
कौन कह कर पड़े भारी उलझन में।
खोलता मैं किंतु सारी कलई तुम्हारी नाथ,
बैठे जो न होते तुम मानस भवन में।

प्रेम प्रलाप

पहने अनेकों ने रँगे पट तुम्हारे लिए,
प्रेमियों पै करते यही तो दया-कोर हो।
रहते सभी के उर में हो सर्वदा ही, पर—,
आते कभी बाहर न, ऐसे मुँह चोर हो।
होऊं प्रेम-भाजन स्वप्रेम बल से ही भले,
किन्तु तुम झुकते न नेक मेरी ओर हो।
चाहक न होता और कोई जो तुम्हारा तो मैं
देखता कि कैसे तुम उर के कठोर हो।

(२)

पाऊँ प्रिय आपको तो जीवन के फल पाऊं,
धोऊं पद पंकज अमल अश्रुनीर में।
उर से लगाऊं विरहानल बुझाऊं तुम्हें—
सुख से सुलाऊं साँस-व्यजन-समीर में।
'कौशलेन्द्र' सारी निरदयता भुलाऊं तव,
और सिखलाऊं दुखी होना परपीर में।
मूंद कर लोचन कपाटों में छकाऊँ खूब,
स्ववश बनाऊं बाँध प्रणय जँजीर में।

लोचनों के प्रति

डूबे रहते हो खारे जल में सदैव तुम,
करते तथापि तुम रूप-सुधा-पान हो।
जब लग जाते तब लगते न पल को भी,
मन का बताते भाव यदपि अजान हो।
'कौशलेन्द्र' जग में प्रसिद्ध लालची हो किंतु,
करते अजस्र अश्रु मोतियों का दान हो।
बिंधते कहीं हो कहीं काट कर होते पार,
नैन तुम ! बान हो न कठिन कृपान हो।

मन के प्रति

आप मिलते पर लड़ाते दीन लोचनों को,
मन ! यह है मलीनता तुम्हारे मन की।
उर विरहानल में जलता सदा है किंतु,
लगी रहती है तुम्हें प्रणय-लगन की।
जिसके संग हो सदा देते हो उसी को दगा,
'कौशलेन्द्र' बान सी तुम्हें है नीच पनकी।

तन पै विलोकि तरुनाई की चढ़ाई, तुम—
छोड़ कर संग ओर लेते हो मदन की।

मरणोन्मुखी

(पति से)

जा रही हूं, अब तो विलम्ब हो रहा है नाथ,
बोलते नहीं क्यों ? पड़े कौन कठिनाई में ?
नतमुख बैठे कब से हो, किम्वा रूठ गए,
फल क्या मिलेगा तुम्हें ऐसी निठुराई में ?
'कौशलेन्द्र' शेष न है कोई अभिलाष मेरा,
पा चुकी हूं क्या न मैं तुम्हारी सेवकाई में ?
प्राणधन! माँगती विदा हूं, किन्तु दे रहे क्यों-
हाय अश्रु मोती तुम मुझको विदाई में ?

(२)

गृहिणी पतिव्रता तुम्हारी कहलाती थी मैं,
किंतु आज दूसरे के हाथ हरी जाती हूं।

तुमने न छोड़ा पर हाय ! तुम्हें छोड़ चली,
देव मैं कलङ्क-वेदना में भरी, जाती हूं ।
'कौशलेन्द्र' कौन थी मैं और क्या हुई हूं अब,
क्या करूं विवश हूं हया में गरी जाती हूं ।
प्राणनाथ ! तुम पर मरती सदा थी किन्तु,
अब मौत पर मैं अभागी मरी जाती हूं ।

३

जीती कुछ और देख लेती सुख आपका तो,
खलती न आज कठिनाई मर जाने की ।
क्या मिले थे आप इस भाँति छुटने के लिए,
रह गई मन में है बात पछिताने की ।
ठहर सकूंगी क्या मैं स्वर्ग में भी तुम बिन,
क्या मिटेगी मर कर चाह तुम्हें पाने की ?
नाथ ! गहो हाथ, हाय व्याधि लगती है हमें--
बार बार जाने और बार बार आने की ।

४

रहना समोद सहना न शोक-ताप तथा,
प्रेम रत्न है इसे न भूल के भी खोना तुम ।

टूटने न देना निज मानस-मुकुर मंजु,
विरह दशा में सदा साहस सँजोना तुम।
'कौशलेन्द्र' सुख से मैं मरती हूं प्रेमधन!
मेरी याद कर के कभी खिन्न न होना तुम.
लीजिए प्रणाम, गुरुजन सामने हैं, हाय ,
लाज धुल जाएगी, न मेरे लिए रोना तुम।

मिलन-मनोरथ

हों हम कलेवर यदि कभी
तो आप प्यारे प्राण हों,
होवें यदपि हम प्राण ही
तो आप उसके त्राण हों।
हम आप के हों आप मम
युग और प्रेम अनंत हों,
जीवन कुसुम-लतिका ललित में
आप कलित वसंत हों।

(२)

हों आप पङ्कज मंजु, तो हम
नील जलमय सर बनें,
यदि आप मधुर पराग' तो
हम रसिक वर मधुकर बनें ।
हम आप को त्यों आप हम को
ध्येय अपना जान लें,
चुम्बक समझ कर दूसरे को
एक लोहा मान लें ।

(३)

हों आप यदि धवलेन्दु तो
हम नील नभ हों सर्वथा,
अथवा समुज्ज्वल चन्द्रिका
प्यारे कुमुद कल हों तथा ।
ग्यारह सदृश हो युग हमारा
एकता की टेक हो,
इस ओर से भी एक हो
उस ओर से भी एक हो ।

(४)

तुम यों मिलो जैसे कि ऋतुपति
से रसिक रति पति मिलें,
अथवा विरह से स्मृति मिलें
सङ्गीत से मृदुगति मिलें ।
कर कर मिलें उर उर मिलें
ऊपर मिलें अन्तर मिलें,
मन भर मिलें खुल कर मिलें
जी कर मिलें मर कर मिलें ।

बधिक से

बाँध कर कोमल सरस स्वर लहरी यों
जादू डालते हो मेरे तन, मन, ध्यान पर ।
दीन बनचारी तृणाहारी भोले भाले मृग,
देवें उपहार क्या ? तुम्हारे कल गान पर ।
'कौशलेन्द्र' छलिया बड़े हो तुम्हें जानता हूं,
घात है तुम्हारी यह मेरे प्यारे प्रान पर ।

मार डालना, परंतु नेक रुक जाओ अभी,
मरने मुझे दो बीन वाले ! मृदु तान पर ।

(२)

शीत के कसाले सहे पाले पर पाले सहे,
आतप के काले काले छाले से हैं तन में ।
लेते रहे सिर पै घनों की वारि-धारा हम,
घोर दुख पाते रहे संतत विजन में ।
'कौशलेन्द्र' आँख, आँख वालों से बचाते रहे,
डरते रहे सदा हवा की सन सन में ।
दूब दशनों में लिए दया के भिखारी रहे,
तो भी हाय तनिक दया न आई मन में ।

(३)

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नहीं,
मार कर हमको न आप कुछ पाएँगे ।
होगा अपकार रम जायगा कुरङ्ग कुल,
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआएँगे ।
'कौशलेन्द्र' हमें बस शोक इतना है, जब-,
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आएँगे ।

सूनी विपिनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आएँगे, नयन झर लाएँगे ।

(४)

बेधते हो कोमल कली को विष-बाण से तो,
बेध दो ! दया न उर में तनिक लाना तुम ।
अब न दुखाना कभी दिल दुखियों का तथा,
आज से कभी न यहाँ बीन भी बजाना तुम ।
'कौशलेन्द्र' लेकर हमारी मृत-देह जब,
जाना घर को तो यह भूल मत जाना तुम ।
प्यार करते थे हमें रसिक सुजान हाय,
इन अँखियों को खूब उन से छिपाना तुम ।

मिलन

भेंटे रघुनन्दन भरत कौं हृदै लगाय,
प्रेम करुणा सों मिल्यो मानो देह धारि सही ।
पुलके कलेवर, विभोर ममता में भए,
भूले भगवान सुधि बुधि अपनी न रही ।

'कौशलेन्द्र' तपनि बुझानी विरहानल की,
अतिहिं अघानी वारि पूरित ह्वै उर मही।
नैनन तें बरसे प्रचुर सुख अँसुआ त्यों,
बैनन तें मधुर सनेह रस धार बही।

कपोलस्थ श्रम सीकर

मैन के मुकुर में जड़्यो है मञ्जु हीरक धौं,
चंद में अमंद फूल मल्लिका को फूलि रह्यो।
कैधौं स्वच्छ सरसी में विकसो कुमुद कैधौं-,
पुंडरीक-सम्पुट पै ओस बुंद झूलि रह्यो।
'कौशलेन्द्र' कैधौं है झलक कल हास की ही,
ओज धौं गुराई में निकाई को समूलि रह्यो।
अमल कपोल पै विलोकि स्रमकन मञ्जु,
मेरो मन मधुप मरंद मानि भूलि रह्यो।

सूक्ति सुधा

भासती हमें है भासमान भानुमण्डल में,
सुषमा निराली मोर मुकुट ललाम की।
सुन पड़ती है प्राणि मात्र के स्वरों में वही,
सुधामयी मञ्जु ध्वनि बंशी अभिराम की।
'कौशलेन्द्र' जान पड़ता है धाम में ही कुंज,
कैसी यह है प्रवञ्चना वियोग वाम की।
देखती हूं जब अपनी मैं परछाईं, तब,
सजनी सदैव मुझे होती भ्रान्ति श्याम की।

(२)

पीत तन मेरा पीत पट जान पड़ता है,
होता है प्रतीत बनमाल मणि हार का।
अनहद-नाद में ध्वनित होता रास-रव,
होता भ्रम बेणी में कलिन्दजा की धार का।
पगली बनी हूं पी के प्रेम मदिरा सुमुखि!
मिलता मुझे सुख निठुरता में प्यार का।
मेरे नयनों में बसते हैं, किन्तु देखती हूं–,
तेरे लोचनों में रूप नंद के कुमार का।

हृदयोद्गार

पिघल कलेजा बह निकला है लोचनों से,
सांसें निकली हैं घबरा कर बदन से।
आ बसी व्यथायें अनजानी उर-देश में हैं,
निकल गया है मोद मानस भवन से।
'कौशलेन्द्र' प्राण हो गया पखेरू पींजरे का,
तुल गया हाय यह तन लघु तृन से।
जीवन अमोल, मुझे हो गया अतोल भार,
जब से मिला तुम्हारा मन मेरे मन से।

(२)

टेरते जो पहले मुझे न मौन भाषा में तो,
क्यों समाई होती श्रवणों में हलचल सी।
फिर यदि फिरते न मुझ से, तो अन्तर में—,
चल उठती क्यों चल-विद्युत की कल सी।
'कौशलेन्द्र' मैं भी तुम्हें ध्यान से निकाल देता,
फँसी जो न होती बुद्धि मन में विकल सी।
देख लेता तब मञ्जु मूर्ति इन आँसुओं में,
काँपती न होती जो निगाह चलदल सी।

(३)

भूल गया अपने को भी मैं अपना के तुम्हें,
किंतु तुम पाते मोद मुझ को सताने से।
बाट जोहता तुम्हारे आने की सदा हूं किंतु,
तुम भागते हो मेरी याद के ही आने से।
'कौशलेन्द्र' इस पै भी मेरे कहलाते तुम,
तंग आगया हूं ऐसी रीति के निभाने से।
हो गया प्रलम्ब और भी हमारा दुख हाय,
प्रेमधन! आपका सनेह जुड़ जाने से।

कामना

जैसे हम चाहें तुम्हें वैसे तुम चाहो हमें,
नित प्रति एक दूसरे को प्रेम दान करें।
आप को न छोड़ें हम आप भी न छोड़ें हमें,
मिलें अनमिल ऐसे प्रणय-विधान करें।
'कौशलेन्द्र' तज दें विवेक असमानता का,
बनें सम, व्यवहार एक ही समान करें।
भास होवें आप में हमारे गुण रूप सब,
हम को विलोक आप का ही अनुमान करें।

प्रणयोपालंभ

मानता तुम्हें जो निज प्राणों से अधिक प्यारा,
ऐसे हो कठोर तुम उसे ही सताते हो।
आते हो न पास चाहे जितना बुलाए कोई,
पास भी जो आते तो न हाथ कभी आते हो।
'कौशलेन्द्र' उलटे विधान हैं तुम्हारे सब,
लाता उर जो तुम्हें उसे न उर लाते हो।
होगा उपकार तुम से किसी का कैसे, जब—,
मारते उसी को जिस को तुम्हीं जिलाते हो।

(२)

प्रेम के हो बश पर प्रेम करते न स्वयं,
हो कर सरल भी कठिनता दिखाते हो।
मान से छकाता उसे मान से छकाते तुम,
जिसको नचाते हो उसी से शरमाते हो।
'कौशलेन्द्र' आप परदे में रहते हो किंतु,
चाहकों को बदनाम जग में बनाते हो।
छलिया बड़े हो है प्रतीत क्या तुम्हारी, कहीं—,
लूटते किसी को कहीं आप लुट जाते हो।

मेरा परिचय

लगन लगे जनों के आकुल नयन हूं मैं,
पावस के बिछुरे सँयोगियों के मन हूं।
जाल में फँसा हुआ सभीत मृग-शावक हूं,
झंझानिल झोंकों का झकोरा हुआ बन हूं।
पींजरे का बाज डूबते हुए का प्राण हूँ मैं,
फणि मणि हीन, दैन्य दलित निधन हूँ।
हो कर ठिकाना भी कहीं न है ठिकाना मेरा,
रहते हुए भी तन के, बना अतन हूँ।

(२)

आँख रखते हुए भी देखता न भूल कभी,
मानता न मन की भी ऐसा मन माना हूं।
चाहता मुझे जो उस से मैं भागता हूं दूर,
किंतु कहता है बुध वृंद कि मैं दाना हूं।
'कौशलेन्द्र' आप में ही लीन रहता हूं सदा,
अपना किसी का हूं न किसी का विराना हूं।
ज्ञान का पढ़ाता पाठ विबुध जनों को भी मैं,
ढंग है अनोखा मेरा, अजब दिवाना हूं।

वियोगाधिक्य

मिलती नहीं है कल एक पल को भी अब,
पड़ गया हूं मैं हाय ऐसी उलझन में।
हो उठी अधीर है अधीरता भी मानस की,
बीतने लगे हैं युग ऐसे छन छन में।
'कौशलेन्द्र' जग ही रहा न वह जग मुझे,
सदन सदन में न विजन विजन में।
घटने लगी है नींद बढ़ने लगी हैं रातें,
और अधिकाने लगे तारे भी गगन में।

(२)

बदल चले स्वभाव भाव सभी और हुए,
पड़ी प्रतिकूलता है बुद्धि और मन में।
लोचनों से देख सकता हूं न कृशाङ्ग निज,
बचन लगे हैं मानो डूबने बदन में।
'कौशलेन्द्र' हो गया भविष्य भी है वर्तमान,
मिला विपरीत फल प्रणय-लगन में।
बढ़ चली विषम-वियोग-ज्वाल ज्यों ज्यों हाय,
उखड़ चली है प्राण-वायु त्यों त्यों तन में।

चिन्ता

प्रेम पथ तो है पग पग में कठिन अति,
डर है कि वह उसमें न कहीं पग जाय।
जैसे मैं ठगी गई प्रपञ्ची पंचशायक से,
वैसे ही न मेरा प्राण प्यारा कहीं ठग जाय।
जलती सदैव विरहानल है मानस में,
दैव उस के भी उर में न कहीं जग जाय।
लगन लगी है दिन रात उस की ज्यों मुझे,
उसी भाँति मेरी उस को न कहीं लग जाय।

सखी के प्रति

पीतम के भौन जुरि आई सबै नारि आली!
देखैं लागीं मेरो मुख घूँघट उघारि कै।
चतुर सयानी रूप-माधुरी बखानैं लागीं,
भूरि मंजु उपमान बार बार वारि कै।
'कौशलेन्द्र' ननदी जिठानी सासु दौरि दौरि,
डारैं लागीं विविधि निछावरैं उतारि कै।
आपनो सो रूप अनुरूपि मुसुकानी सौति,
मेरो मुख-मुकुर मनोहर निहारि कै।

करुणा कादम्बिनी

धन धान्य पूरित बनाया जिस देश को था,
मोहन! वही दुकाल दुख से अधीर है।
हो गये अनाथ कहलाते लोकनाथ जो थे,
मोद था जहां वहां पै आज पड़ी भीर है।
'कौशलेन्द्र' आप ने ही हमको भुला दिया यों,
उलट गई बस हमारी तक़दीर है।
किस लाज-पट में छिपे हो लाजपति! यहां—
खिंच रहा हाय हिन्द मां का लाज-चीर है।

(२)

परम स्वतन्त्र थे जो वे ही अब दास हुए,
मिला कर्म-वीरों को कठिन कारागार है।
कुदशा किसानों की हुई कुलीन हीन हुए,
श्रम-जीवियों को हुआ जीवन भी भार है।
'कौशलेन्द्र' देखें तो हमारी दीन-वाणी पर,
कब तक खुलता न तब दया-द्वार है।
नङ्गे पग आओगे उबारने को नाथ, यह-,
गज की गुहार त्राहि त्राहि की पुकार है।

(३)

मोद युत रास रंग रचते जहां थे तुम,
भरते जहां थे मञ्जु राग बंशी वर के।
सुन पड़ता करुण क्रंदन वहीं है अब,
कटते वहीं हैं सिर सुरभी निकर के।
'कौशलेन्द्र' भारत रहा न वह भारत है,
हुआ निरुपाय हाय! पाले पड़ा पर के।
फिर भी न द्रवते हमारी दयनीयता पे,
क्या हुए कठोर गिरधारी! गिरि धर के।

(४)

या तो नाथ! भारत का नाम ही मिटा दो, या कि–,
उस को उबार कर रक्खो निज नाम सार।
जिस मातृ–मेदिनी की गोद में पले थे तुम,
क्या न उस के लिए करोगे यह उपकार।
(धर्म–क्षय के समय होगा मम अवतार),
'कौशलेन्द्र' गीता का वचन निज लो विचार।
बरस चुके हम अनेकों बार दृग–वारि,
घनश्याम! बरसो दया का वारि एक बार।

दीन

दूसरों के दुख में सदैव उर थाम लिया,
और पर सुख में तुम्हारा मन भाया है।
प्राण तक वार दिया चाहा किसी ने जो तुम्हें,
पास भी बिठाया उसे उर में बिठाया है।
'कौशलेन्द्र' संतत रहे परोपकार लीन,
समझा न भूल कभी अपना पराया है।
प्रेम वश होना द्रवना दया का दान देना,
दीन ! तुम ने ही दयानिधि को सिखाया है।

(२)

सदय बड़े हो है सदयता तुम्हारी गेय,
छोड़ते न आन अपनी हो किसी हाल में।
रखते अटल अनुराग हो सभी के प्रति,
बांध रक्खा बैरियों को भी है प्रेम जाल में।
'कौशलेन्द्र' कृशता तुम्हारी ही शरण लेती,
खोजती तुम्हीं को है दरिद्रता दुकाल में।
शांति पाती है तुम्हारी छाया में निदाघ धूप,
शीत छिपता है मुट्ठियों में शीत काल में।

(३)

कहते दशा न अपनी कभी किसी से, सदा-,
बात हो बनाते पर मुँह न बनाते तुम ।
मानस में भाप सी व्यथा जो उठती कभी तो,
अश्रु बरसाते उर आतप बुझाते तुम ।
'कौशलेन्द्र' रहते अचल हो अचल सम,
घोर दुख में भी रसना पै 'हा' न लाते तुम ।
आह करते भी तो डिगाते ध्यान शंकर का,
प्रलय मचाते हरि-हृदय हिलाते तुम ।

(४)

होता उपलब्ध जितना उसी में होते तुष्ट,
हीनता पै अपनी न नेक पछताते हो ।
आँख है चुराता यदि कोई तुम से तो तुम,
राह में उसी की नैन-पाँवड़े बिछाते हो ।
'कौशलेन्द्र' निर्बल कभी, कभी सबल तुम,
प्रबल प्रभाव प्रबलों पै भी जमाते हो ।
दीन तुम्हें दीन बतलाओ हम कैसे कहें,
जब तुम बंधु दीनबंधु के कहाते हो ।

मित्र महिमा

लोचन विहीनों के अलख दिव्य लोचन हो,
पङ्गुओं के पग असहायों के सहारा हो।
निपट निराशा में हो आशा की किरण तुम,
'कौशलेन्द्र' दुख रजनी में शांति तारा हो।
वृद्धों की लकुट हो मुकुट महिपालों के हो,
तुमुल रणाङ्गण में साहस की धारा हो।
नाविक के तीर हो विजेता वीर सङ्गर के,
बल भुजदण्डों के हो कर के दुधारा हो।

(२)

आती है विपत्ति जब मित्र पै तुम्हारे कभी,
सत्वर निवारणार्थ आगे वहाँ आते तुम।
करते अजस्र अविराम प्रेम व्यवहार,
प्रत्युत अटल निज दया छत्र छाते तुम।
देखते उसी का मुख फूल सा खिला जो कभी,
'कौशलेन्द्र' फूल फूल फूले न समाते तुम।
होते द्रवीभूत उस के लिये सदैव, यदि–,
नैन भर लाता वह, उर भर लाते तुम।

(३)

होते जो विलग क्षण को भी उस से कभी तो,
　　तुम अल्प सलिल के मीन बन जाते हो।
ध्येय है तुम्हारा वही उसके लिए ही तुम,
　　कभी जग से भी उदासीन बन जाते हो।
'कौशलेन्द्र' सदा उसे रखते प्रसन्न, वह–,
　　मृग बनता तो तुम बीन बन जाते हो।
दानी बन करते दया हो उस पै, तथापि–,
　　उसकी दया के लिए दीन बन जाते हो।

(४)

समझा उसी के दुख को है निज दुःख, तथा–,
　　उसी के सुखों में तुमने भी सुख पाया है।
'कौशलेन्द्र' सिर पै लिया बचाया बाल बाल,
　　वार उसके जो कभी बाल पै भी आया है।
शोभा उस की है तुम से तुम्हारी उससे त्यों,
　　रूप तुम हो तो वह रङ्ग मन भाया है।
देखने में भिन्न हो तथापि हो अभिन्न, तुम–,
　　उसमें समाये वह तुम में समाया है।

सूक्ति-सुधा-बिन्दु

मञ्जुल मुकुर में समाई मुख छवि जैसे,
फूल में सुगंध, घनमण्डल में पानी है।
सांति में छमा है, मन मानी ज्यों कुसासन में,
कल्पना में सुख, बात मौन में छिपानी है।
'कौशलेन्द्र' मनसिज मन में छिप्यो है जैसे,
चान्द्रिका धवल चन्द्रमा सों लपटानी है।
तैसे यह जग है तुम्हारी माया नाथ, तुम-,
माया में समाने माया तुम में समानी है।

(२)

हौं तो अनजान प्रेम रीति कछु जानौं नाहिं,
बस करि लीन्हो तुम्हें सौतिनि सयानी है।
वारौं तन मन प्राण तुमपै सदा ही तऊ,
ऐसे निरमोही मोरी सुधि हू न आनी है।
'कौशलेन्द्र' आए हौ सनेह सरसाइबे कौं,
अब लौं तो खूब करि लीन्ही मन मानी है।
लावौ न हमें उर, तुम्हारे हू समेहै हाय,
मेरे उर में वियोग-वेदना समानी है।

चित्त-चोर से

वारा तुम पै था तन मन यह जान के कि,
  तुम भी हमारी भांति प्रणय-विभोर हो।
आ गई थी सहसा प्रतीति तुम पर, बस–,
  देख के यही कि भोले भाले हो किशोर हो।
किंतु अब हम देखने को भी तरस रहे,
  किस को खबर थी कि इतने कठोर हो।
घुसने न देता तुम्हें मानस-भवन में जो,
  नेक भी मैं जानता कि तुम चित्त-चोर हो।

(२)

ध्यान में तुम्हारे दिन रात हम लीन रहे,
  तो भी हमें तुमने भुलाया, तो भुलाया क्या।
पीड़ित स्वयं थे प्रेम-पीड़ा से बहुत हम,
  उसपै भी हमको सताया, तो सताया क्या।
'कौशलेन्द्र' जब बश में ही थे तुम्हारे तब,
  छल बल अपना दिखाया, तो दिखाया क्या।
मन को मिला कर लड़ा कर दृगों को मेरे,
  वञ्चना से चित्त यों चुराया, तो चुराया क्या।

प्रतीक्षा

भूल ही गए क्या ? प्रेम-पात्र हैं तुम्हारे हम,
आओ प्रेमधन ! तुम्हें कब से पुकारते ।
चित्त वृत्तियां हमारी स्वागत को आतुर हैं,
प्राण चाहते कि सब कुछ निज वारते ।
'कौशलेन्द्र' दिन रात लालची विलोचन ये,
बाट जोहते हैं किन्तु नेक भी न हारते ।
बार बार खुल कर बाहर विलोक लेते,
बार बार मुँद कर अन्तर निहारते ।

(२)

मानस बना है भूरि भावनाओं का भवन,
एक है निकलती तो दूसरी समाती है ।
ज़ोर ज़ोर चल कर साँस देखती है राह,
जब पल को भी हमें नींद कभी आती है ।
'कौशलेन्द्र' तन में प्रतीक्षा की प्रबलता से,
आतुरता इतनी अधिक बढ़ जाती है ।
आठों याम दौड़ता है रक्त नाड़ियों में, और,—
हरदम कूदती उमंग भरी छाती है ।

दुखिया

हम दुखिया हैं, दुख ही है जग में हमारा,
मोड़ा मुँह सब ने हमें मुँह लगाने में।
दयानिधि भी दया बिसार के बने निठुर,
आया उनको भी हँसना हमें रुलाने में।
'कौशलेन्द्र' नहीं जान पड़ता है भेद कुछ,
क्यों कर लगे हैं सब हमको सताने में।
खल दल सबल लगा है शांति हरने में,
सुजन समाज दुख धन के बँटाने में।

(२)

आँसुओं से धोते हम उर की मलीनता हैं,
तो भी सब हम से घृणा ही किए जाते हैं।
करते दमन व्यसनों का दीनता से सदा,
क्षम्य हैं, तथापि हमें दोष दिए जाते हैं।
'कौशलेन्द्र' वाणी-बाण से हैं चीर देते उर,
किंतु हम मौन हो सदैव सिए जाते हैं।
बन कर दुखिया न फिर कभी जीना पड़े,
इसी लिए हाय हम और जिए जाते हैं।

(३)

प्राणों में सदैव हाहाकार मचा रहता है,
मानो यह मानस प्रदेश गया लूटा है।
भाग कर जायें कहां सूझता नहीं उपाय,
हारा बल और बाँध साहस का टूटा है।
'कौशलेन्द्र' कठिन बड़ा है पथ जीवन का,
क्या है अवलम्ब संग भी तो हाय छूटा है।
हम हैं अभागे बड़े जग में हमारा भाग्य,
कैसा अचरज है, बिना लड़े ही फूटा है।

(४)

रक्त जल हो कर बहा है आँसुओं के मिस,
सूखा है कलेवर उसासों की बयार से।
प्राण हुए भार मनोवेदना के भार से हैं,
ऊब गया जी है जग-कष्ट कारागार से।
'कौशलेन्द्र' दुख ही बदा है जब भाग्य में तो,
होगा न भला किसी के प्रेम व्यवहार से।
रोना याद आएगा पिघलने लगेगा मन,
कोई मत देखना हमारी ओर प्यार से।

विदा

छाई उदासी थी नगर में
घोर हाहाकार था,
था गरजता रोदन
उमड़ता अश्रु पारावार था।
तैय्यार थे श्रीराम बन को
सज रहा दुख साज था।
दशरथ नृपति की राजधानी
में व्यथा का राज था।

(२)

था ज्वलित विरहानल
हवा थी सर्द आहें भर रही,
करुणा बिलखती थी स्वयं ही
मौत भी थी मर रही।
ऐसे समय में भानुकुल-मणि
प्रेम-मग्न चले वहां,
लेने विदा रनवास में
थीं मातु कौशिल्या जहां।

(३)

छू कर चरण नतमुख हुए वे
  विद्ध से वर बोल थे,
नीरज नयन जल पूर्ण धूमल
  अमल गोल कपोल थे।
बोलीं प्रणय-विह्वल बनी
  तन प्राण अपना वार के,
श्यामल शरीर निहार के
  मुख चूम के पुचकार के।

(४)

मेरा दुलारा प्राण-प्यारा
  नैन तारा राम तू,
मैं बलि गई, क्यों आज है
  यों मलिन मुख छविधाम तू।
क्या क्षुधित है या तृषित तू
  सम्प्रति कलेऊ की नहीं,
खा ले तनिक मिष्टान्न प्यारे!
  मानता मम जी नहीं।

(५)

कल है तुम्हारा राज तिलक
बड़ा नगर में हर्ष है,
परिजन स्वजन प्रमुदित सभी हैं
प्रेम है, उत्कर्ष है ।
बोले ललक कर दो विदा—
मां ! यही तिलक विशेष है,
'चौदह बरस बन में रहो'
यह तात का आदेश है ।

(६)

उनकी शुभाज्ञा पालना ही
सर्वथा निज ध्येय है,
कर्त्तव्य से हटना मनुज को
त्याज्य है, अति हेय है ।
अतएव है कर-बद्ध विनती
अम्ब आयसु दीजिए,
मैं शीघ्र लौटूंगा
न मन में नेक चिंता कीजिए ।

(७)

वे रह गईं निस्तब्ध हो
सुन कर कथा यह दुखमयी,
प्रलयङ्करी तड़िता सघन घन में
कड़क मानो गई ।
उच्छ्वास के शीतल पवन
भरते हृदय में पीर थे,
था विरह-वाष्प समुत्थ
झरते नयन-नीरद नीर थे ।

(८)

उर थाम कर फिर वे
अगम दुख-सिंधु में बहने लगीं,
सहने लगीं भारी व्यथा
यों राम से कहने लगीं ।
जिस मञ्जु आनन से
बिखरते थे सदा ही फूल से,
हा ! हा ! उसी से आज यों
निकले प्रचंड त्रिशूल से ।

(९)

पाकर हमें निरुपाय, दुख में—
गोड़ते हो, गोड़ दो,
अर्थी बना कर हाय यों
सिर फोड़ते हो, फोड़ दो।
छोड़ा तुम्हें हम ने न, पर तुम
छोड़ते हो, छोड़ दो,
बेटा बुढ़ापे का सहारा
तोड़ते हो, तोड़ दो।

(१०)

जीवन बनेगा भार सिर का
हाय प्यारे तुम विना,
खाने लगेगा भवन ही
हमको दुलारे! तुम बिना।
हो कर विलग तुम से भला
क्यों कर हमें कल आयगी,
मैया तुम्हारी वत्स! गैया—
सी सदैव रम्हायगी।

(११)

क्या दैव ने मेरी भरी थी
हाय! गोद इसी लिए,
पाला तुम्हें क्या कष्ट सह कर—
भी समोद इसी लिए।
सुख-धन सदन में था बढ़ा
यों आज लुटने के लिए,
तुम थे मिले तो क्या हुआ
इस भांति छुटने के लिए।

(१२)

आज्ञा नृपति की है उधर
छुटता इधर ज्यों प्रान है,
मैं हाँ करूं कि न हाँ करूं
सब भाँति दुःख महान है।
छाया अँधेरा है दृगों में
पथ कहां भगवान है,
उस ओर है सागर भरा
इस ओर घोर कृशान है।

(१३)

निज तात से हो कर विलग
हा मैं सदन में, क्या करूं,
कैसे रहेगा हाय मेरा वत्स
वन में, क्या करूं ।
निशि में सहेगा शीत
आतप-ताप दिन में, क्या करूं,
पैदल चलेगा लाल गोदी का
विपिन में, क्या करूं ।

(१४)

तन तो नृपति का है तथा
मन भी उन्हीं के हाथ है,
है जा रहा प्यारा विजन को
कौन उसके साथ है ।
हे प्राण! तुम पापी बड़े हो
अब निकलते क्यों नहीं,
उस लाड़ले घनश्याम तन के
संग चलते क्यों नहीं ।

(१५)

इस भाँति जब शोकार्त
जननी को विलोका राम ने,
कहते हुए यों वर वचन
दी सान्त्वना भगवान ने।
जो सुत न निज माता पिता की
उचित सेवा कर सका,
निज प्रेम श्रद्धा-भाव से
मानस न उन के भर सका।

(१६)

उस पुत्र का संसार में
हे अम्ब, जीवन भार है,
पर क्या करूं मैं विवश हूं
सब भांति मेरी हार है।
मानूं न आज्ञा तात की
तो नष्ट होता धर्म है,
छोड़ूँ तुम्हें इस भाँति अब
अति ही कठिन यह कर्म है।

(१७)

सुन कर गिरा गंभीर वे
कुछ धैर्य्य पथ पर आगई,
दुख सिंधु में लघु तोय—
तिन के का सहारा पा गई।
कहने लगी आदेश पालन ही
तुम्हारा ध्येय है।
जाओ! लगाए हूं उपल उर से,
यही अब श्रेय है।

(१८)

जाओ ललन! जाओ! विपिन—
की गोद हो, तुम को भली,
अबतक भरी पूरी रही मैं
—आज से विपिनस्थली।
भगवान! मेरे लाल के हों
सफल साधन सर्वदा,
घर में रहे अथवा विजन में
पर समोद रहे सदा।

प्रेमी

मानस-प्रदेशों में तुम्हारा प्रेम-शासन है,
प्रेमी तुम धन्य हो तुम्हारे ढँग न्यारे हैं।
हिंसक दयालु बन जाते तुम्हें देख कर,
द्रोह पच जाते दुष्ट द्रोहियों के सारे हैं।
'कौशलेन्द्र' प्रबल प्रतापी हो, तुम्हारे आगे,
योधा जग-विजयी, जितेन्द्रिय भी हारे हैं।
कौन कहे? तुम से बड़ा है कोई और, जब-,
स्वयं चक्र पाणि बने चाकर तुम्हारे हैं।

(२)

प्रेम-व्रतधारी! तुम्हीं प्रेम की क्षुधा में कभी,
चुगते अँगार हो चकोर बन जाते हो।
देख कर मंजु घन-माला नभ मण्डल में,
तुम्हीं 'कौशलेन्द्र' मत्त-मोर बन जाते हो।
मृग बन मरते तुम्हीं हो बीन-बानी पर,
तुम्हीं प्रेम-चङ्ग की सु डोर बन जाते हो।
देते हो किसी को भोले बन के हृदय-दान,
किसी को चतुर चित्त चोर बन जाते हो।

(३)

प्रेमधन ! होते जो न आप ही जगत में तो,
महिमा बढ़ाता कौन ईश-गुण-गान की।
रखता किसी से कोई क्योंकर सहानुभूति,
जग में न चलती प्रथा प्रणय-दान की।
'कौशलेन्द्र' पूछता न वेद औ पुराण कोई,
कौन गाँठ खोलता गहन ब्रह्म-ज्ञान की।
मिलता सुदामा सा न प्रेमी यदि श्याम को तो,
पदवी न पाते वह करुणानिधान की।

(४)

भावुकता-भावमय दया का पढ़ाया पाठ,
सान कर सब को समानता सरस में।
आप में हमें औ हम में दिखाया अपने को,
मोहिनी सी डाल कर किया निज बश में।
'कौशलेन्द्र' अकथ तुम्हारी महिमा है, तब—,
कैसे कुछ कह के पड़ें हम अयश में।
प्रेमिक ! तुम्हारे गुण गाते हम खूब यदि-
डूबी होती रसना हमारी प्रेम-रस में।

विरह निवेदन

रहते छिपे हो उर धाम में ही मेरे तुम,
तदपि तुम्हें न कभी नेक लख पाता हूं।
बुझती बुझाये विरहानल नहीं है किन्तु,
उर पै सदैव अश्रु-सरिता बहाता हूं।
प्रेम-कामना में गले पड़ा है वियोग हाय,
मिलता न त्राण, मैं अतीव अकुलाता हूं।
अपनी व्यथा-कथा सुनाऊं किस भाँति, जब–
पाता हूं तुम्हें तो अपने को भूल जाता हूं।

(२)

यामिनी हिमंत की दिवस हुए ग्रीषम के,
बन गया कानन है सुंदर सदन का।
'कौशलेन्द्र' जीवन ही जीवन का भार हुआ,
बुन्द जल निधि हुआ, मेरु हुआ कन का।
दैव प्रतिकूल हुआ, फूल जो था शूल हुआ,
उलटा मिला है फल प्रणय-लगन का।
ज्ञान रहा गुण का, न ध्यान रहा धीरज का,
मन रहा तन का न तन रहा मन का।

हरिचंन्द की

उच्चता न होती यदि कल्पना में इतनी तो,
उच्चता बखानी जाती बस ! शैल वृन्द की।
मौलिकता होती जो न विशद विचारों में तो,
खुलती नवीनता न प्रकृति अमंद की।
'कौशलेन्द्र' होती जो न छंदों में मधुरिमा तो,
और बढ़ जाती मंजु माधुरी मरंद की।
इन्दु कहलाता भारतेन्दु आज भारत का,
फैली जो न होती काव्य-आभा हरिचंद की।

घनश्याम देखि

पीत पट वारी छवि नैनानि छहरि जाति,
चमकत चहूँधा चपल विज्जु दाम देखि।
कोकिल पपीहरा उचारैं जनु बंशी धुनि,
भासै मणि-माल बकमाल अभिराम देखि।
'कौशलेन्द्र' भान होत मंजुल मुकुट को त्यों,
मोद भरे मुरवान नाचत ललाम देखि।

मघवा निठुर मेरे प्राणन को प्यासो भयो,
आली सुधि आवैं घनश्याम घनश्याम देखि।

प्रणय-नीति

उन पै अपनो मन वारिये ना
जो सनेह की जानत रीति नहीं,
जहँ नेह नए नित लागैं नएन सों
है तहँ की कछु प्रीति नहीं।
छल स्वारथ को है लगाव बुरो
यह प्रेम औ नेम की नीति नहीं,
उनसों हित कीन्हे कहा फल है
जिनके हित की परतीति नहीं।

निठुराई है

उन घनश्याम घाम, ताप सों बचायो सदा,
तुम घनश्याम विरहानल लगाई है।

वे हैं दयाधाम तुम नटवर लीलाधाम,
उन गुरुताई तुम पाई चपलाई है।
'कौशलेन्द्र' उनकी तुम्हारी सरवरि कहा,
नाम घनश्याम धरे कौन प्रभुताई है।
उनमें भरो है जग-जीवन अमल जल,
मीचु सम तुम में समाई निठुराई है।

सुकुमार हैं

लिखत लिखत गई हारि हौं कहाँ लौं लिखौं,
मिलत न पार दुख मन में अपार हैं।
यातें तुम थोरे ही में दीजो समुझाय सब,
और कहियो कि बृज-बाल निराधार हैं।
'कौशलेन्द्र' कैसे हाथ में लै बाँचि पैहैं हाय,
सोचि यह उर में चुभत जनु खार हैं।
पतिया भई पहार, विरह-कथा के भार,
तुम ही सुनैयो ऊधो! श्याम सुकुमार हैं।

प्रणयोपालंभ

प्रेम करना तो है सरल सब को सदैव,
किंतु उसका बड़ा ही कठिन निभाना है।
स्वार्थ का सगा है सारा जग खूब देख लिया,
भरम गवाँना ही किसी को अपनाना है।
'कौशलेन्द्र' कैसे कछु आप से कहूं मैं, जब–,
निज भोले पन का तुम्हें सदा बहाना है।
प्यारे श्याम! हमें याद रक्खें या भुलायें आप,
किंतु हम को तो भूल गया भूल जाना है।

आशा

वृद्ध पुरुषों का सहवास करती हो कभी,
रमती कभी हो तुम भोले बालापन में।
रोगियों के उर में उमंग भरती हो कभी,
मौज मारती हो कभी भोगियों के मन में।
विषम वियोग में भी देख पड़ती हो कभी,
'कौशलेन्द्र' प्रेमियों की प्रणय लगन में।

करतीं निवास युवकों के लोचनों में कभी,
कारी सुकुमारियों की चारु चितवन में।

(२)

गाते हैं गुणानुवाद योगी जन देवि तव,
नित प्रति मंजु भाव भरे भक्ति-रागों में।
कोविद कवीश कांत कोमल पदों में सदा,
मञ्जुल मलिन्द कञ्जपूरित तड़ागों में,।
कोकिल वसंत में चकोर चाँदनी में तथा,
नीरव निशीथ समै विरही विहागों में।
बाँधते हैं मञ्जु स्वर-लहरी गुणावली की,
होकर विभोर अनुरागी अनुरागों में।

* इति *

सम्मति

(नं० १)

श्री कौशलेन्द्र जी की काकली रसिक हृदयों को रस-प्लावित कर देती है, उसकी मर्म स्पर्शनी उक्तियां हृदयों में एक स्पंदन उत्पन्न करती हैं और उसकी करुण ध्वनियां मन में एक उथल पुथल मचा देती हैं; काकली में माधुर्य और प्रसाद जिस प्रकार गले मिलते हैं वह छवि देखते ही बनती है।

"सनेही"

ॐ
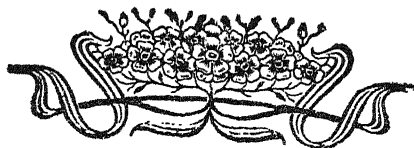
काकली पर एक दृष्टि ।

—— :(:※:): ——

(नं० २)

बन्धुवर कौशलेन्द्र जी की रचनाओं का संकलन देख कर अँग्रेजी में "लव्स-बड" की याद आती है। जिस समय मैंने कवि के स्फुट पदों का संग्रह देखा, उस समय अपने "भावना-निकुञ्ज" में कल्पना-कोकिल कौशलेन्द्र की कल काकली सुनने को आतुर हो उठा। काकली के प्रथम पृष्ठ का आध्यात्मिक अलाप कितना मधुर है, कि हृदय में उस स्वर को ग्रहण करने के लिये विकलता हो उठती है। कवि का मीठा स्वर व्यापक-ब्रह्माण्ड का अध्ययन करके और प्रार्थना-सदृश "अपने नाथ" के श्री चरणों पर गिरकर गान करता है। कवि की भावना परमात्म पथ से थक कर एक स्वर में कहती है :—

"हेरि हार्‌यो, परत न आगे पगनाथ ! गति—
गैल में हिरानी मति मन में हिरानी है।"

दूसरे पृष्ठ पर कवि ने अपने "दुख" पद्य में भौतिक तत्त्वों का परिचय बड़ी सूक्ष्मता से दिया है। साथ ही तत्त्वों से निराश हो कर नैराश्य-समीर के झोंके में कहता है :—

"डाल दिया मुझको कहाँ है भगवान, हाय—
दुखिया हुआ मैं इन दुःखियों में आने से।

इस पद्य से मालूम पड़ता है, कवि भौतिक विश्व से परेशान हो गया है, उसे "मीटीरियल वर्ल्ड" भला नहीं मालूम हो रहा है। सूक्ष्म-तत्त्व की फिलासफी उसकी समझ में आगई है। तीसरे पृष्ठ पर कवि की "जिज्ञासा" है। "उत्तरी मीमान्सा" का प्रथम सूत्र "अथातो ब्रह्म जिज्ञासा" है। किसी वस्तु तत्त्व को जानने के लिये जिज्ञासा होनी बहुत ज़रूरी है। इस पद्य में कवि प्रकृति की सारी विकृतियों में भी जिज्ञासा देख रहा है। उसे अवनि-आकाश में कुछ रहस्य मालूम हो रहा है। सभी विकृत गोलक पदार्थों द्वारा मूक भाषण सा होता हुआ प्रतीत हो रहा है। अन्त में कवि का कहना है :—

"किसके रिझाने को प्रकृति सजती है साज,
कोई बतलादो मैं पड़ा हूँ उलझन में।
जीवन-दिवस जा रहे हैं किसे खोजने को,
किस के लिये रुके हुए हैं, प्राण तन में।"

पूरे पद्य के पढ़ने से मालूम होता है, कवि ने प्रकृति का गंभीर अध्ययन किया है, और दार्शनिक उलझन में पड़कर अपने "अस्तित्व" "प्राण की रुकावट"—का कारण पूछता है।

प्रस्तुत पद्य में प्रणय की अभिलाषा कवि के हृदय-लोक में क्या काम कर रही है, स्पष्ट है प्रणय के गर्भ से संयोग और वियोग की सृष्टि होती है। प्रणयी की सफलता तभी जानी

जाती है, जब स्वयं प्रणयी अपने आप—संयोगात्मक सुख में और वियोगात्मक दुःखमय आनन्द में—कह उठे :—

विश्व वेदना के मानस में,
बजती जिनकी वीणा।
वही जानते मेरे सुख की,
आकुलता की पीड़ा।

(अन्तर्जगत)

प्रणयी को प्रणय में आकुलता की पीड़ा भी सुख प्रद मालूम होती है। कुशल कलाविद् कौशलेन्द्र का कहना है :—

"भूल गया अपने को भी मैं अपना के तुम्हें,
किन्तु तुम पाते मोद मुझको सताने से।"

पुनश्चः—

"कौशलेन्द्र" इस पै भी मेरे कहलाते तुम,
तंग आ गया हूँ ऐसी रीति के निभाने से।
हो गया प्रलम्ब और भी हमारा दुःख हाय,
प्रेम धन! आपका "सनेह" जुड़ जाने से।"

यह प्रणय की साधना है। चाहे प्रणयी का दुःख "सनेह" के बढ़ जाने से बढ़ गया हो, लेकिन मेरे ख़याल से प्रणयी का प्रणय और भी अधिक गुरुतर हो गया। यह प्रणयी के लिए गौरव की बात है। अस्तु काकली के पद्य आध्यात्म

प्रणय की हिलोर में लिखे मालूम पड़ते हैं। कुछ पद्य आध्यात्मिक और कुछ पद्य सूक्ति-सुधा सिञ्चित प्रणय से सिक्त मालूम पड़ते हैं। मैं प्रणय के आशावादी तपस्वी कुशल कलाविद श्री कौशलेन्द्र जी से आशा करता हूँ, कि भविष्य में और भी गंभीर-सुन्दर; सरस रचना का शृंगार करके भावुक-विश्व के सामने प्रस्तुत करेंगे।

भावना-निकुञ्ज
मैनपुरी।
अषाढ़ शुक्ल ९-१९८६।

ब्रह्मचारी इन्द्र,
रिसर्चस्कालर आफ़
अलंकारशास्त्र।